

देखिए, जैसा कि मैंने उस दिन कहा था, वक्ता महत्त्वपूर्ण नहीं है, पर वह क्या कहता है, यह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह जो कुछ कह रहा है, वह आपके ही आत्म-वार्तालाप का उच्चस्वर है। वक्ता जिन शब्दों का प्रयोग कर रहा है, उनके द्वारा आप अपने आप को ही सुन रहे हैं, न कि वक्ता को, और इसीलिए सुनना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सुनना सीखना है, संचित करना नहीं। यदि आप ज्ञान संचित करते हैं तथा उस संचय व ज्ञान की अपनी पृष्ठभूमि से सुनते हैं, तब आप सुन नहीं रहे होते। जब आप सुनते हैं, तभी आप सीखा करते हैं। आप अपने बारे में ही सीख रहे हैं, और इसलिए आपको ध्यान से, असाधारण अवधान सहित सुनना होगा, तथा यदि आप जो कुछ सुनते हैं उसका पक्ष लेने लगते हैं, निंदा करते हैं या किसी और तरह से मूल्यांकन करते हैं, तो अवधान नहीं रहता।

यदि आप एक तूफान के बाद नदी के किनारे बैठे हों, तो आप देखते हैं कि जल-धारा ढेर सारा मलबा बहा कर ले जा रही है। इसी प्रकार आपको अपनी हर गतिविधि को सावधानी से देखना होगा, प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना, प्रत्येक अभिप्राय, प्रत्येक उद्देश्य का अनुसरण करते हुए बस इसे देखना भर होगा, यह देखना सुन लेना भी है। यह मनुष्यों द्वारा निर्मित उन सब मूल्यों के प्रति, जो आपको संस्कारबद्ध किए हुए हैं, आपका अपनी आंखों से, अपने कानों से, अपनी अंतर्दृष्टि द्वारा सजग हो जाना है, और समग्र सजगता की यह अवस्था ही सारी तलाश का अंत ले आती है।

जैसा कि मैंने कहा था, तलाशना व पाना ऊर्जा का अपव्यय है। जब मन अपने आप में अस्पष्ट, भ्रमित, भयभीत, दुखी, व्याकुल हो, तो इसकी तलाश का मतलब ही क्या रह जाता है? इस अस्तव्यस्तता से आप सिवाय और अस्तव्यस्तता के क्या पा सकते हैं? किंतु जब मन भयभीत न हो, पुनराश्वासन की मांग न करे, तब कोई तलाश नहीं है, इसलिए कुछ पाने को भी नहीं है। ईश्वर का, सत्य का दर्शन करना धार्मिक कृत्य नहीं है। एकमात्र धार्मिक कृत्य है स्व-ज्ञान के द्वारा इस आंतरिक स्पष्टता तक पहुंचना अर्थात् सभी अंतरंग, गुप्त इच्छाओं के प्रति सजग होकर उन्हें प्रकट होने देना, हमेशा सावधानीपूर्वक देखते हुए, बिना उन्हें सही और नियंत्रित किये अथवा उनमें संलग्न हुए। इस तरह लगातार सावधानीपूर्वक देखने से असाधारण स्पष्टता व संवेदनशीलता आती है तथा ऊर्जा का ज़बरदस्त संरक्षण होता है; और अपने पास अपार ऊर्जा होनी चाहिए, क्योंकि समस्त क्रिया ऊर्जा है, जीवन अपने आपमें ऊर्जा है। जब हम दुर्दशाग्रस्त, व्याकुल, झगड़ते हुए, ईर्ष्यालु होते हैं, जब हम डरे हुए होते हैं, जब हम अपमानित या प्रशंसित महसूस करते हैं, तब ऊर्जा का क्षय होता है। शारीरिक या आंतरिक रूप से रोगग्रस्त होना भी ऊर्जा का क्षय है। जो कुछ भी हम करते, सोचते या महसूस करते हैं, वह ऊर्जा का बाहर निष्कासन ही है। अब या तो हम ऊर्जा के क्षय को समझ लेते हैं, और इसलिए उस समझ से समस्त ऊर्जा का स्वाभाविक समागम होता है, अथवा हम बाह्य परिधि से मूल केंद्र तक आने की आशा में अपना जीवन ऊर्जा की विभिन्न विरोधाभासी अभिव्यक्तियों को साथ लाने के संघर्ष में खर्च कर देते हैं।

धर्म का सार पावनता है, जिसका न तो धार्मिक संगठनों से कुछ लेना-देना है, न ही उस मन से जो विश्वास में, धर्मनीति में फंसा और संस्कारित है। ऐसे मन के लिए कुछ भी पावन नहीं है, सिवाय उस ईश्वर के जो इसने स्वयं गढ़ा है, सिवाय उन कर्मकांडों के जो इसने स्वयं रच लिए हैं या उन विभिन्न संवेदनों के सिवाय जो इसे प्रार्थना, उपासना, समर्पण आदि से प्राप्त होते हैं। लेकिन इन सब में तो कुछ भी पावन नहीं है। मतांधता में, कर्मकांडों में, भावुकता या भावविह्वलता में कुछ भी पावन नहीं है। पावनता धार्मिक मन का सारतत्त्व है, तथा इस सुबह हम इसी का अन्वेषण करने जा रहे हैं। हमारा सरोकार उससे नहीं है, जिसे पावन माना लिया जाता है--प्रतीक, वह शब्द, वह व्यक्ति, वह चित्र, कोई विशिष्ट अनुभव, ये सब बचकाने हैं--बल्कि हमारा सरोकार तो मूल तत्त्व से है; और इस हेतु हममें से प्रत्येक के लिए उस

समझ का होना ज़रूरी है जो देखने या सजग होने से आती है, पहले बाहरी चीजों के प्रति; बाह्य व्यवहार, हाव-भाव, पहनावे, आकृतियों, किसी पेड़ के आकार व रंग, किसी व्यक्ति, किसी भवन के रूप के प्रति पहले सजग हुए बिना मन आंतरिक सजगता की लहर पर सवार नहीं हो सकता। यह ज्वार है जो बाहर जाता है, व भीतर आता है तथा जब तक आप बाहर जाती लहर को नहीं समझ लेते, आप भीतर आती लहर को भी नहीं समझ पाएंगे।

ज़रा इसे ध्यान से सुनें। हममें से अधिकतर लोग समझते हैं कि सजगता कुछ ऐसी रहस्यमय बात है जिसका अभ्यास किया जाना चाहिए और इसके बारे में बात करने के लिए हमें दिन-प्रति-दिन मिलते रहना चाहिए। अब आप इस ढंग से तो कभी सजगता तक पहुंच नहीं सकते। परंतु यदि आप बाह्य वस्तुओं के प्रति सजग होते हैं--सड़क का मोड़, किसी की पोशाक का रंग, नीले आकाश में पर्वतों की परिरेखा, एक पुष्प की कोमलता, किसी पथिक के चेहरे पर लिखी पीड़ा, औरों की अनभिज्ञता, ईर्ष्या, डाह, धरती का सौंदर्य--इन सब बाहरी चीजों को बिना बुराई-बड़ाई के देखते हुए, आप आंतरिक सजगता के प्रवाह पर आरोहण कर सकते हैं। तब आप अपनी स्वयं की प्रतिक्रियाओं, अपनी क्षुद्रताओं, अपनी ईर्ष्याओं के प्रति सजग हो जाएंगे। बाह्य सजगता से आप आंतरिक सजगता की ओर आते हैं, किंतु यदि आप बाह्य के प्रति सजग नहीं हैं, तो आप संभवतः आंतरिक तक नहीं आ पाएंगे।

जब मन व शरीर की प्रत्येक गतिविधि के प्रति भीतरी सजगता होती है, जब आप अपने प्रच्छन्न तथा प्रकट, चेतन तथा अचेतन विचारों व भावों के प्रति सजग होते हैं, तब उस सजगता से एक स्पष्टता आती है जो मन द्वारा प्रवृत्त तथा निर्मित नहीं होती। और उस स्पष्टता के बिना, आप चाहे जो कर लें, आसमान, धरती एवं पाताल छान डालें, किंतु आप कभी पता नहीं लगा पाएंगे कि सत्य क्या है।

तो जिसे यह अन्वेषण करना हो कि सत्य क्या है, उसमें सजगता की इस संवेदनशीलता का होना आवश्यक है, जिसका मतलब सजगता का अभ्यास करना नहीं है। सजगता का अभ्यास केवल आदत की ओर ले जाता है तथा आदत समस्त संवेदनशीलता नष्ट कर देती है; कोई भी आदत, चाहे वह सेक्स की आदत हो, पीने की आदत हो, सिगरेट की आदत हो या और कोई भी आदत हो, मन को असंवेदनशील बना देती है, और ऐसा मन जो असंवेदनशील होता है, ऊर्जा का क्षरण तो करता ही है, साथ ही मंद, सुस्त भी हो जाता है। एक मंद, उथला, संस्कारग्रस्त, क्षुद्र मन कोई मादक द्रव्य ले सकता है तथा एक पल के लिए उसे कोई आश्चर्यजनक अनुभव भी हो सकता है, लेकिन रहता तब भी वह एक क्षुद्र मन ही है। और अभी हम इस बात का पता लगा रहे हैं कि मन की क्षुद्रता का अंत कैसे हो।

क्षुद्रता का अंत अधिक मालूमात, अधिक जानकारी जमा करने, उच्चकोटि के संगीत को सुनने, संसार के रमणीक स्थलों को देखने आदि से नहीं होता, क्षुद्रता का इन सब से कुछ लेना-देना नहीं है। क्षुद्रता का अंत होता है स्वयं को जानने की स्पष्टता से, उस मन की गतिशीलता से जिसमें अवरोध हैं ही नहीं; और ऐसा मन ही धार्मिक मन है।

धर्म का सार है पावनता। परंतु पावनता किसी गिरजे, मंदिर, मस्जिद या किसी छवि में नहीं है। मैं सार-तत्त्व की बात कर रहा हूं, न कि उन वस्तुओं के विषय में जिन्हें हम पावन कहा करते हैं। जब कोई धर्म के इस सार को समझ लेता है जो कि पावनता है, तब जीवन का पूरी तरह से कुछ और ही अर्थ हो जाता है; तब हर चीज़ में सौंदर्य होता है और सौंदर्य पावनता है। सौंदर्य वह नहीं है, जो उद्दीपन जगाए। जब आप किसी पर्वत, किसी भवन, नदी, घाटी, फूल या चेहरे को देखते हैं तो आप कह पाते हैं कि यह

सुंदर है, क्योंकि इसके द्वारा आपमें उद्दीपन जागता है, परंतु जिस सौंदर्य की बात मैं कर रहा हूं, वह कोई उद्दीपन, कोई उत्तेजना नहीं देता। यह किसी चित्र में, प्रतीक में, शब्द में, संगीत में पाया जाने वाला सौंदर्य नहीं है। यह सौंदर्य पावनता है; धार्मिक मन का यह सार है, उस मन का सार जो अपने स्व-ज्ञान में स्पष्ट है। इस सौंदर्य से भेंट, अनुभव की इच्छा करने, चाहने, उत्कण्ठित रहने से नहीं होती है, बल्कि इसका आगमन तभी होता है, जब अनुभव की समस्त कामना का ही अंत हो जाए--और इसे समझ पाना सर्वाधिक कठिन बातों में से एक है।

जैसा मैंने पहले ध्यान दिलाया था, जो मन अनुभव की तलाश कर रहा है, अभी भी परिधि पर घूम रहा है, और हर अनुभव की व्याख्या आपके विशिष्ट संस्कार पर निर्भर करती है। आप चाहे ईसाई, बौद्ध, मुसलमान, हिन्दू या साम्यवादी हों, या जो भी हों, आपका अनुभव आपकी पृष्ठभूमि के अनुरूप अनूदित व संस्कारित होगा, तथा जितने अधिक अनुभव की आप मांग करते हैं, आप अपनी पृष्ठभूमि उतना ही अधिक मजबूत कर रहे होते हैं। इस प्रक्रिया से दुःख का अभाव, अवसान नहीं होता, बल्कि यह तो दुःख से पलायन मात्र है। वह मन जो अपने आपको जानते हुए सुस्पष्ट है, जो मन स्पष्टता व प्रकाश का सार है, उसे अनुभव की आवश्यकता नहीं होती है। यह तो जो है, वही है। अतः स्पष्टता अपने आपको जानने से आती है, न कि किसी अन्य के निर्देश के माध्यम से, चाहे वह कोई चतुर लेखक, कोई मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक या तथाकथित धार्मिक शिक्षक ही क्यों न हो।

प्रेम के बिना, मृत्यु की समझ के बिना पावनता नहीं है। आपको पता है यह जीवन की अत्यंत अद्भुत बातों में से एक है, किसी चीज़ का अनपेक्षित रूप से, सहज ही पता चलना, बिना किसी पूर्वमनन के कुछ मिल जाना, तथा तत्क्षण उसकी सुंदरता, पावनता व वास्तविकता को देख पाना। लेकिन जो मन कुछ तलाश रहा है, कुछ पाना चाह रहा है, वह कभी उस स्थिति में नहीं होता। प्रेम ऐसी बात नहीं है, जिसे अभ्यास के द्वारा उपजाया जा सके। विनम्रता की तरह प्रेम को भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। सिर्फ अहंकारी लोग ही विनम्र होने का प्रयास करते हैं, सिर्फ अभिमानी लोग ही विनम्रता का अभ्यास करके अपने अभिमान को त्यागने का प्रयास करते हैं। विनम्रता का अभ्यास अहंकार की ही एक क्रिया है। सुनने अतएव सीखने के लिए विनम्रता की सहज गुणवत्ता आवश्यक है। और वह मन जो विनम्रता की प्रकृति समझ चुका है, कभी अनुसरण नहीं करता, आज्ञानुसारी नहीं बनता। क्योंकि वह, जो पूरी तरह निषेधात्मक है, रिक्त है, कैसे किसी का अनुसरण या आज्ञापालन कर सकता है?

एक मन जो कि स्वयं को जानने की स्पष्टता में यह पता लगा चुका है कि प्रेम क्या है, वह मृत्यु की प्रकृति व संरचना के प्रति भी सजग होगा। यदि हम अतीत के प्रति, कल की हर बात के प्रति मर नहीं जाते, तो मन अपनी लालसाओं में, स्मृति की परछाइयों में, अपने संस्कारों में ही जकड़ा रहता है और इसलिए उसमें स्पष्टता नहीं होती। बीते हुए कल के प्रति सहजता से, स्वेच्छा से, बिना किसी बहस या पक्ष-समर्थन के मृत हो पाने के लिए खासी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। बहस करना, सफाई देना, पसंद-नापसंद ऊर्जा की बरबादी है, और इसी कारण व्यक्ति बीते हुए तमाम कलों के प्रति मृत नहीं होता, उनका विसर्जन नहीं करता जिससे कि मन ताज़ा व नूतन हो सके। जब एक बार स्वयं को जानने की प्रक्रिया में समझ निखरती है तो प्रेम अपनी सौम्यता लिए आ उपस्थित होता है। विनम्रता की सहज गुणवत्ता आ जाती है, तथा मृत होने के माध्यम से अतीत से यह मुक्ति भी घटित होती है।

और इस सब से सर्जन का आगमन होता है। आत्माभिव्यक्ति सर्जन नहीं है, यह चित्रफलक पर रंग भरने, अथवा पुस्तक के रूप में थोड़े से या बहुत से शब्द लिख लेने, अथवा रसोई में डबलरोटी बनाने या गर्भ में

शिशु धारण करने का मामला नहीं है। इनमें से कुछ भी सर्जन नहीं है। सर्जन केवल तभी होता है जब प्रेम व मृत्यु घटित होते हैं।

सर्जन केवल तब होता है जब हर दिन हर चीज़ के प्रति मरना होता रहे, ताकि स्मृति के रूप में कोई संचय न हो। निश्चित ही अपने वस्त्रों, मकान तथा व्यक्तिगत संपत्ति के लिए आपको थोड़ा संचय चाहिए ही, मैं बात उसकी नहीं कर रहा हूँ। यह तो मन में संचय व अधिकार की आंतरिक प्रवृत्ति है, जिससे आधिपत्य, प्रभुत्व, अनुरूपता व आज्ञाकारिता की उत्पत्ति होती है, और इसकी वजह से सर्जन घटित नहीं हो पाता, क्योंकि ऐसा मन कभी मुक्त नहीं होता। केवल एक मुक्त मन ही जानता है कि प्रेम क्या है तथा मृत्यु क्या है, और सर्जन केवल ऐसे मन के लिए ही संभव है। इस स्थिति में वह मन धार्मिक होता है; इस स्थिति में ही पावनता विद्यमान होती है।

मेरे लिए *पावनता* शब्द असाधारण अर्थ रखता है। देखिए, मैं इस शब्द का प्रचार नहीं कर रहा हूँ, मैं आपसे कोई बात मनवाने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ और न ही उस शब्द के द्वारा आपको यथार्थ की अनुभूति या प्रतीति कराने का मेरा कोई प्रयास है। आप ऐसा कर भी नहीं सकते। आपको अपने आप इस सब से गुज़रना होगा, शाब्दिक रूप से नहीं, अपितु वास्तव में। आपको वस्तुतः हर उस चीज़ के प्रति जो आप जानते हैं, अपनी स्मृतियों के प्रति, अपनी दुर्दशाओं के प्रति, अपने सुखों के प्रति मृत होना होगा। और जब ईर्ष्या, डाह, लालच व हताशा की यातना का अभाव होगा, तब आप जान लेंगे कि प्रेम क्या है, तथा आप उस तक आ पाएंगे, जिसे पावन कहा जा सकता है।

अतः पावनता धर्म का सार है। देखिए, एक विशाल नदी किसी शहर से गुज़रते समय प्रदूषित हो सकती है, लेकिन यदि यह प्रदूषण बहुत ही ज़्यादा नहीं है तो आगे बहने पर नदी अपने आप को स्वच्छ कर लेती है, और कुछ कोस बाद ही यह पुनः निर्मल, अभिनव, विशुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार जब मन एक बार इस पावनता को साकार कर लेता है, तब प्रत्येक क्रिया विशुद्धीकरण की क्रिया हो जाती है। अपनी प्रत्येक गतिविधि से मन स्वयं को निर्दोष बनाता रहता है; तथा इसलिए यह संचय नहीं कर रहा होता। वह मन जिसने इस पवित्रता का अन्वेषण कर लिया है, अनवरत क्रांति में होता है--आर्थिक या सामाजिक क्रांति नहीं, वरन् एक आंतरिक क्रांति जिसके द्वारा यह निरंतर स्वयं को शुद्ध करता रहता है। इसकी क्रिया किसी अवधारणा अथवा किसी सूत्र पर आधारित नहीं होती। जैसे नदी अपनी प्रचंड जलराशि सहित बहते-बहते अपने को साफ करती चलती है, ठीक उसी तरह मन भी स्वयं को निर्मल करने लगता है, जब उसे इस धार्मिक पावनता का साक्षात् हो जाता है।

सानेन] 1 अगस्त 1965